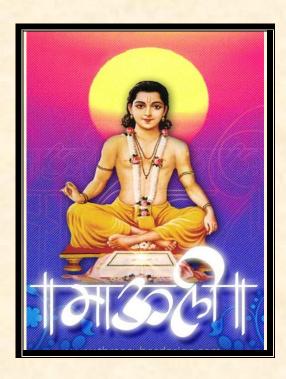
॥ श्रीहरि ॥ ॥ श्री भावार्थदीपिका ॥ ॥ अध्याय चवथा ॥

< (2) > < (2) > < (2) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3) > < (3)



हेचि आम्हां करणे काम । बीज वाढवावे नाम ॥

संतचरणरज बाळकृष्ण प्रकाश कदम जय हरि सांस्कृतीक प्रतिष्ठान, सोलापूर

॥ अध्याय चवथा ॥ ॥ ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः॥

<%><%><%><%><%><%><%><%><%>

आजि श्रवणेंद्रियां पाहलें । जें येणें गीतानिधान देखिलें । आतां स्वप्नचि हें तुकलें । साचासरिसें ॥ १ ॥ आधींचि विवेकाची गोठी । वरी प्रतिपादी श्रीकृष्ण जगजेठी । आणि भक्तराजु किरीटी । परिसत असे ॥ २ ॥ जैसा पंचमालापु सुगंधु । कीं परिमळु आणि सुस्वादु । तैसा भला जाहला विनोदु । कथेचा इये ॥ ३ ॥ कैसी आगळिक दैवाची । जे गंगा जोडली अमृताची । हो कां जपतपें श्रोतयांचीं । फळा आलीं ॥ ४ ॥ आतां इंद्रियजात आघवें । तिहीं श्रवणाचें घर रिघावें । मग संवादसुख भोगावें । गीताख्य हें ॥ ५ ॥ हा अतिसो अतिप्रसंगें । सांड्रनि कथाचि ते सांगें । जे कृष्णार्जुन दोघे । बोलत होते ॥ ६ ॥ ते वेळीं संजयो रायातें म्हणे । अर्जुनु अधिष्ठिला दैवगुणें । जे अतिप्रीति श्रीनारायणें । बोलतु असे ॥ ७ ॥ जें न संगेचि पितया वसुदेवासी । जें न संगेचि माते देवकीसी । जें न संगेचि बंधु बळिभद्रासी । तें गुह्य अर्जुनेंशीं बोलत ॥८॥ देवी लक्ष्मीयेवढी जवळिक । परी तेही न देखे या प्रेमाचें सुख । आजि कृष्णस्नेहाचें बिक । यातेंचि आथी ॥ ९ ॥ सनकादिकांचिया आशा । वाढीनल्या होतिया कीर बहुवसा । परी त्याही येणें मानें यशा । येतीचिना ॥ १० ॥ या जगदीश्वराचें प्रेम । एथ दिसतसें निरुपम ।

कैसें पार्थें येणें सर्वोत्तम । पुण्य केलें ॥ ११ ॥ हो कां जयाचिया प्रीती । अमूर्त हा आला व्यक्ती । मज एकवंकी याची स्थिती । आवडतु असे ॥ १२ ॥ ए-हवीं हा योगियां नाडळे । वेदार्थासी नाकळे । जेथ ध्यानाचेही डोळे । पावतीना ॥ १३ ॥ तो हा निजस्वरूप । अनादि निष्कंप । परी कवणें मानें सकृप । जाहला आहे ॥ १४ ॥ हा त्रैलोक्यपटाची घडी । आकारची पैलथडी । कैसा याचिये आवडी । आवरला असे ॥ १५ ॥

श्रीभगवानुवाच । इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् । विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १॥

मग देव म्हणे अगा पंडुसुता । हाचि योगु आम्हीं विवस्वता । कथिला परी ते वार्ता । बहुतां दिवसांची ॥ १६ ॥ मग तेणें विवस्वतें रवी । हे योगस्थिति आघवी । निरूपिली बरवी । मनूप्रती ॥ १७ ॥ मनूनें आपण अनुष्ठिली । मग इक्ष्वाकुवा उपदेशिली । ऐसी परंपरा विस्तारिली । आद्य हे गा ॥ १८ ॥

> एवं परम्पराप्राप्तिममं राजर्षयो विदुः । स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २॥

मग आणिकही या योगातें। राजर्षि जाहले जाणते। परी तेथोनि आतां सांप्रतें । नेणिजे कोण्ही ॥ १९ ॥ जे प्राणियां कामीं भरु । देहाचिवरी आदरु । म्हणौनि पडिला विसरु । आत्मबोधाचा ॥ २० ॥ अव्हांटलिया आस्थाबुद्धि । विषयसुखची परमावधि । जीवु तैसा उपाधि । आवडे लोकां ॥ २१ ॥ एरव्हीं तरी खवणेयांच्या गांवीं । पाटाउवें काय करावीं । सांगें जात्यंधा रवी । काय आथी ॥ २२ ॥ कां बहिरयांच्या आस्थानीं । कवण गीतातें मानीं । कीं कोल्हेया चांदणीं । आवडी उपजें ॥ २३ ॥ पें चंद्रोदया आरौतें। जयांचे डोळे फुटती असते। ते काउळे केवीं चंद्रातें । वोळखती ॥ २४ ॥ तैसी वैराग्याची शिंव न देखती । जे विवेकाची भाष नेणती । ते मुर्ख केंवीं पावती । मज ईश्वरातें ॥ २५ ॥ कैसा नेणों मोहो वाढीनला । तेणें बहुतेक काळु व्यर्थ गेला । म्हणौनि योगु हा लोपला । लोकीं इये ॥ २६ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः । भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३॥

तोचि हा आजि आतां । तुजप्रती कुंतीसुता । सांगितला आम्हीं तत्त्वतां । भ्रांति न करीं ॥ २७ ॥ हें जीवींचें निज गुज । परी केवीं राखों तुज । जे पढियेसी तूं मज । म्हणौनियां ॥ २८ ॥ तूं प्रेमाचा पुतळा । भक्तीचा जिव्हाळा ।
मैत्रियेचि चित्कळा । धनुर्धरा ॥ २९ ॥
तूं अनुसंगाचा ठावो । आतां तुज काय वंचूं जावों ।
जरही संग्रामारूढ आहों । जाहलों आम्ही ॥ ३० ॥
तरी नावेक हें सहावें । गाजाबज्यही न धरावें ।
परी तुझें अज्ञानत्व हरावें । लागे आधीं ॥ ३१ ॥

(\$><\$><\$><\$><\$><\$><\$><\$>

अर्जुन उवाच । अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः । कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४॥

तंव अर्जुन म्हणे श्रीहरी । माय आपुलेयाचा स्नेहो करी ।
एथ विस्मयो काय अवधारीं । कृपानिधी ॥ ३२ ॥
तूं संसारश्रांतांची साउली । अनाथ जीवांची माउली ।
आमृतें कीर प्रसवली । तुझीच कृपा ॥ ३३ ॥
देवा पांगुळ एकादें विजे । तरी जन्मौनि जोजारु साहिजे ।
हें बोलों काय तुझें । तुजचि पुढां ॥ ३४ ॥
आतां पुसेन जें मी कांहीं । तेथ निकें चित्त देईं ।
तेवींचि देवें कोपावें ना कांहीं । बोला एका ॥ ३५ ॥
तरी मागील जे वार्ता । तुवां सांगितली होती अनंता ।
ते नावेक मज चित्ता । मानेचिना ॥ ३६ ॥
जे तो विवस्वतु म्हणजे कायी । ऐसें हें विडलां ठाउवें नाहीं ।
तरी तुवांचि केवीं पाहीं । उपदेशिला ॥ ३७ ॥
तो तरी आइकिजे बहुतां काळांचा । आणि तूं तंव श्रीकृष्ण

सांपेचा । म्हणौनि गा इये मातुचा । विसंवादु ॥ ३८ ॥ तेवींचि देवा चरित्र तुझें । आपण कांहींचि नेणिजे । हें लटिकें केवीं म्हणिजे । एकिहेळां ॥ ३९ ॥ परि हेचि मातु आघवी । मी परियेसें ऐशी सांगावी । जे तुवांचि रवी केवीं । पाही उपदेशु केला ॥ ४० ॥

श्रीभगवानुवाच । बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन । तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५॥

तंव श्रीकृष्ण म्हणे पंडुसुता । तो विवस्वतु जैं होता । तैं आम्हीं नसों ऐसी चित्ता । भ्रांति जरी तुज ॥ ४१ ॥ तरी तूं गा हें नेणसी । पैं जन्में आम्हां तुम्हासी । बहुतें गेलीं परी तियें न स्मरसी । आपुलीं तूं ॥ ४२ ॥ मी जेणें जेणें अवसरें । जें जें होऊनि अवतरें । तें समस्तही स्मरें । धनुर्धरा ॥ ४३ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीष्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६॥

म्हणौनि हें आघवें । मागील मज आठवें । मी अजुही परि संभवें । प्रकृतियोगें ॥ ४४ ॥ माझें अव्ययत्व तरी न नसे । परी होणें जाणें एक दिसे । तें प्रतिबिंबें मायावशें । माझ्याचि ठायीं ॥ ४५ ॥ माझी स्वतंत्रता तरी न मोडे । परी कर्माधीनु ऐसा आवडे । तेही भ्रांतिबुद्धि तरी घडे । ए-हवीं नाहीं ॥ ४६ ॥ कीं एकचि दिसे दुसरें । तें दर्पणाचेनि आधारें । ए-हवीं काय वस्तुविचारें । दुजें आहे ॥ ४७ ॥ तैसा अमूर्तिच मी किरीटी । परी प्रकृति जैं अधिष्ठीं । तैं साकारपणें नट नटीं । कार्यालागीं ॥ ४८ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७॥

जें धर्मजात आघवें । युगायुगीं म्यां रक्षावें । ऐसा ओघु हा स्वभावें । आद्यु असे ॥ ४९ ॥ म्हणौनि अजत्व परतें ठेवीं । मी अव्यक्तपणही नाठवीं । जे वेळीं धर्मातें अभिभवी । अधर्मु हा ॥ ५० ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८॥

ते वेळीं आपुल्याचेनि कैवारें । मी साकारु होऊनि अवतरें ।

मग अज्ञानाचें आंधारें । गिळूनि घालीं ॥ ५१ ॥

अधर्माची अवधी तोडीं । दोषांचीं लिहिलीं फाडीं ।

सज्जनांकरवीं गुढी । सुखाची उभवीं ॥ ५२ ॥

दैत्यांचीं कुळें नाशीं । साधूंचा मानु गिंवशीं ।

धर्मासीं नीतीशीं । शेंस भरीं ॥ ५३ ॥

मी अविवेकाची काजळी । फेडूनि विवेकदीप उजळीं ।

तैं योगियां पाहे दिवाळी । निरंतर ॥ ५४ ॥

सत्सुखें विश्व कोंदे । धर्मुचि जगीं नांदें । भक्तां निघती दोंदे । साित्विकाचीं ॥ ५५ ॥ तै पापांचा अचळु फिटे । पुण्याची पहांट फुटे । जैं मूर्ति माझी प्रगटे । पंडुकुमरा ॥ ५६ ॥ ऐसेया काजालागीं । अवतरें मी युगीं युगीं । परि हेंचि वोळखें जो जगीं । तो विवेकिया ॥ ५७ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९॥

माझें अजत्वें जन्मणें । अक्रियताचि कर्म करणें । हें अविकार जो जाणे । तो परममुक्त ॥ ५८ ॥ तो चालिला संगें न चळे । देहींचा देहा नाकळे । मग पंचत्वीं तंव मिळे । माझ्याचि रूपीं ॥ ५९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः । बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भवमागताः ॥ १०॥

ए-हवीं परापर न शोचिती । जे कामनाशून्य होती । वाटा कें वेळीं न वचती । क्रोधाचिया ॥ ६० ॥ सदा मियांचि आथिले । माझिया सेवा जियाले । कीं आत्मबोधें तोषले । वीतराग जे ॥ ६१ ॥ जे तपोतेजाचिया राशी । कीं एकायतन ज्ञानासी । जे पवित्रता तीर्थांसी । तीर्थरूप ॥ ६२ ॥ ते मद्भावा सहजें आले । मी तेचि ते होऊनि ठेले । जे मज तयां उरले । पदर नाहीं ॥ ६३ ॥ सांगैं पितळेची गंधिकाळिक । जैं फिटली होय निःशेख । तैं सुवर्ण काई आणिक । जोडूं जाइजे ॥ ६४ ॥ तैसे यमनियमीं कडसले । जे तपोज्ञानें चोखाळले । मी तेचि ते जाहले । एथ संशयो कायसा ॥ ६५ ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११॥

ए-हवीं तरी पाहीं । जे जैसे माझ्या ठायीं ।
भजती तयां मीही । तैसाचि भजें ॥ ६६ ॥
देखें मनुष्यजात सकळ । हं स्वभावता भजनशीळ ।
जाहलें असे केवळ । माझ्याचि ठायीं ॥ ६७ ॥
परी ज्ञानेंवीण नाशिले । जे बुद्धिभेदासी आले ।
तेणेंचि त्या कल्पिलें । अनेकत्व ॥ ६८ ॥
म्हणौनि अभेदीं भेदु देखती । यया अनाम्या नामें ठेविती ।
देवी देवो म्हणती । अचर्चातें ॥ ६९ ॥
जे सर्वत्र सदा सम । तेथ विभाग अधमोत्तम ।
मतिवशें संभ्रम । विवंचिती ॥ ७० ॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धि यजन्त हि देवताः । क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२॥

मग नानाहेतुप्रकारें । यथोचितें उपचारें । मानिलीं देवतांतरें । उपासिती ॥ ७१ ॥ तथ जें जें अपेक्षित । तें तैसेंचि पावती समस्त । परी तें कर्मफळ निश्चित । वोळख तूं ॥ ७२ ॥ वांचून देतें घेतें आणिक । निभ्रांत नाहीं सम्यक । एथ कर्मचि फळसूचक । मनुष्यलोकीं ॥ ७३ ॥ जैसें क्षेत्रीं जें पेरिजे । तें वांचूिन आन न निपजे । कां पाहिजे तेंचि देखिजे । दर्पणाधारें ॥ ७४ ॥ नातरी कडेयातळवटीं । जैसा आपुलाचि बोलू किरीटी । पिडसाद होऊनि उठी । निमित्तयोगें ॥ ७५ ॥ तैसा समस्तां यां भजना । मी साक्षिभूतु पैं अर्जुना । एथ प्रतिफळे भावना । आपुलाली ॥ ७६ ॥

चातुर्वण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः । तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३॥

आतां याचिपरी जाण । चा-हीं हे वर्ण ।
सृजिलें म्यां गुण- । कर्मविभागें ॥ ७७ ॥
जे प्रकृतीचेनि आधारें । गुणाचेनि व्यभिचारें ।
कर्में तदनुसारें । विवंचिली ॥ ७८ ॥
एथ एकचि हे धनुष्यपाणी । परी जाहले गा चहूं वर्णीं ।
ऐसी गुणकर्मकडसणी । केली सहजें ॥ ७९ ॥
म्हणौनि आइकें पार्था । हे वर्णभेदसंस्था ।
मीं कर्ता नव्हें सर्वथा । याचिलागीं ॥ ८० ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा । इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४॥

हें मजिचस्तव जाहलें । परी म्यां नाहीं केलें । ऐसें जेणें जाणितलें । तो सुटला गा ॥ ८१ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वेरिप मुमुक्षुभिः । कुरु कर्मेव तस्मात्त्वं पूर्वेः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५॥

मागील मुमुक्षु जे होते । तिहीं ऐशिया जाणोिन मातें । कमें केलीं समस्तें । धनुर्धरा ॥ ८२ ॥ पिर तें बीजें जैसीं दग्धलीं । नुगवतींचि पेरिलीं । तैशीं कमेंचि पिर तयां जाहलीं । मोक्षहेतु ॥ ८३ ॥ एथ आणिकही एक अर्जुना । हे कर्माकर्मविवंचना । आपुलिये चाडें सज्ञाना । योग्यु नोहे ॥ ८४ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः । तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६॥

कर्म म्हणिपे तें कवण । अथवा अकर्मा काय लक्षण ।
ऐसें विचारितां विचक्षण । गुंफोनि ठेले ॥ ८५ ॥
जैसें कां कुडें नाणें । खयाचेनि सारखेपणें ।
डोळ्यांचेंहि देखणें । संशयीं घाली ॥ ८६ ॥
तैसें नैष्कर्म्यतेचेनि भ्रमें । गिंवसिजत आहाती कर्में ।
जे दुजी सृष्टी मनोधमें । करूं सकती ॥ ८७ ॥
वांचूनि मूर्खाची गोठी कायसी । एथ मोहले गा क्रांतदर्शी ।
म्हणौनि आतां तेंचि परियेसीं । सांगेन तुज ॥ ८८ ॥

कर्मण्यो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः । अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७॥

तरी कर्म म्हणजे स्वभावें । जेणें विश्वाकारु संभवे ।
तें सम्यक् आधीं जाणावें । लागे एथ ॥ ८९ ॥
मग वर्णाश्रमासि उचित । जें विशेष कर्म विहित ।
तेंही वोळखावें निश्चित । उपयोगेंसी ॥ ९० ॥
पाठीं जें निषिद्ध म्हणिपे । तेंही बुझावें स्वरूपें ।
येतुलेनि कांहीं न गुंफे । आपैसेंचि ॥ ९१ ॥
ए-हवीं जग हें कर्माधीन । ऐसी याची व्याप्ती गहन ।
परी तें असो आइकें चिन्ह । प्राप्तांचें गा ॥ ९२ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः । स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८॥

जो सकळकर्मीं वर्ततां । देखें आपुली नैष्कर्म्यता । कर्मसंगें निराशता । फळाचिया ॥ ९३ ॥ आणि कर्तव्यतेलागीं । जया दुसरें नाहीं जगीं । ऐसिया नैष्कर्म्यता तरी चांगीं । बोधला असे ॥ ९४ ॥ तरी क्रियाकलापु आघवा । आचरतु दिसे बरवा । तोचि तो ये चिन्हीं जाणावा । ज्ञानिया गा ॥ ९५ ॥ जैसा कां जळापाशीं उभा ठाके । तो जरी आपणपें जळामाजिं देखे । तरी तो निभ्रांत वोळखे । म्हणे मी वेगळा आहें ॥ ९६ ॥

अथवा नावें हन जो रिगे । तो थडियेचें रुख जातां देखे वेगें ।

तेचि साचोकारें जों पाहों लागे । तंव रुख म्हण अचळ ॥ ९७ ॥
तैसें सर्व कर्मीं असणें । ते फुडें मानूनि वायाणें ।

मग आपणया जो जाणे । नैष्कर्म्य ऐसा ॥ ९८ ॥
आणि उदोअस्तुचेनि प्रमाणें । जैसें न चालतां सूर्याचें चालणें
। तैसें नैष्कर्म्यत्व जाणें । कर्मींचि असतां ॥ ९९ ॥
तो मनुष्यासारिखा तरी आवडे । परी मनुष्यत्व तया न घडे ।
जैसें जळामाजीं न बुडे । भानुबिंब ॥ १०० ॥
तेणें न पाहतां विश्व देखिलें । न करितां सर्व केलें ।

न भोगितां भोगिलें । भोग्यजात ॥ १०१ ॥
एकेचि ठायीं बैसला । परि सर्वत्र तोचि गेला ।
हें असो विश्व जाहला । आंगेंचि तो ॥ १०२ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९॥

जया पुरुषाच्या ठायीं । कर्माचा तरी खेदु नाहीं । परी फलापेक्षा कहीं । संचरेना ॥ १०३ ॥ आणि हें कर्म मी करीन । अथवा आदिरलें सिद्धी नेईन । येणें संकल्पेंहीं जयाचें मन । विटाळेना ॥ १०४ ॥ ज्ञानाग्नीचेनि मुखें । जेणें जाळिलीं कर्में अशेखें । तो परब्रह्मचि मनुष्यवेखें । वोळख तूं ॥ १०५ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः । कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २०॥

जो शरीरीं उदासु । फळभोगीं निरासु । नित्यता उल्हासु । होऊनि असे ॥ १०६ ॥ जो संतोषाचा गाभारा । आत्मबोधाचिये वोगरां । पुरे न म्हणेचि धनुर्धरा । आरोगितां ॥ १०७ ॥

\$><\$><\$><\$><\$>\

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः । शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१॥

यहच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः । समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२॥

कैसी अधिकाधिक आवडी । घेत महासुखाची गोडी । सांडोनियां आशा कुरोंडी । अहंभावेंसीं ॥ १०८ ॥ म्हणौनि अवसरें जें जें पावे । कीं तेणेंचि तो सुखावे । जया आपुलें आणि परावें । दोन्ही नाहीं ॥ १०९ ॥ तो दिठीं जें पाहे । तें आपणचि होऊनि जाये । आईके तें आहे । तोचि जाहला ॥ ११० ॥ चरणीं हन चाले । मुखें जें जें बोले । ऐसें चेष्टाजात तेतुलें । आपणचि जो ॥ १११ ॥ हें असो विश्व पाहीं । जयासि आपणपेंवांचूनि नाहीं । आतां कवण तें कर्म कायी । बाधी तयातें ॥ ११२ ॥ हा मत्सरु जेथ उपजे । तेतुलें नुरेचि जया दुजें । तो निर्मत्सरु काइ म्हणिजे । बोलवरी ॥ ११३ ॥ म्हणौनि सर्वांपरी मुक्तु । तो सकर्मुचि कर्मरहितु । सगुण परि गुणातीतु । एथ भ्रांति नाहीं ॥ ११४ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः । यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३॥

तो देहसंगें तरी असे । परी चैतन्यासारिखा दिसे । पाहतां परब्रह्माचेनि कसें । चोखाळु भला ॥ ११५ ॥ ऐसाहि परी कौतुकें । जरी कमें करी यज्ञादिकें । तरी तियें लया जाती निःशेखें । तयाच्याचि ठायीं ॥ ११६ ॥ अकाळींचीं अभ्रें जैशीं । उमींवीण आकाशीं । हारपती आपेशीं । उदयलीं सांती ॥ ११७ ॥ तेशीं विधिविधानें विहितें । जरी आचरे तो समस्तें । तरी तियें ऐक्यभावें ऐक्यातें । पावतीचि गा ॥ ११८ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हिवर्ब्रह्माग्नो ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४॥

हें हवन मी होता । कां इयें यज्ञीं हा भोक्ता । ऐसिया बुद्धीस नाहीं भिन्नता । म्हणौनियां ॥ ११९ ॥ जे इष्टयज्ञ यजावे । तें हिवर्मंत्रादि आघवें । तो देखतसे अविनाशभावें । आत्मबुद्धि ॥ १२० ॥ म्हणौनि ब्रह्म तेंचि कर्म । ऐसें बोधा आलें जया सम । तया कर्तव्य तें नैष्कर्म्य । धनुर्धरा ॥ १२१ ॥ आतां अविवेकु कुमारत्वा मुकले । जयां विरक्तीचें पाणिग्रहण जाहलें । मग उपासन जिहीं आणिलें । योगाग्नीचें ॥ १२२ ॥ दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते । ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५॥

जे यजनशील अहर्निशीं । जिहीं अविद्या हिवली मनेंसीं । गुरुवाक्य हुताशीं । हवन केलें ॥ १२३ ॥ तिहीं योगाग्निकीं यजिजे । तो दैवयज्ञु म्हणिजे । जेणें आत्मसुख कामिजे । पंडुकुमरा ॥ १२४ ॥ आतां अवधारी सांगैन आणिक । जे ब्रह्माग्नी साग्निक । तयांतें यज्ञचि यज्ञु देख । उपासिजे ॥ १२५ ॥

श्रोत्रादिनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति । शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६॥

एक संयमाग्निहोत्री । ते युक्तित्रयाच्या मंत्रीं । यजन करिती पिवत्रीं । इंद्रियद्रव्यीं ॥ १२६ ॥ एकां वैराग्य रिव विवळे । तंव संयती विहार केले । तेथ अपावृत जाहले । इंद्रियानळ ॥ १२७ ॥ तिहीं विरक्तीची ज्वाळा घेतली । तंव विकारांचीं इंधनें पिळपली । तेथ आशाधूमें सांडिलीं । पांचही कुंडें ॥ १२८ ॥ मग वाक्यविधीचिया निरवडी । विषय आहुती उदंडीं । हवन केलें कुंडीं । इन्द्रियाग्नीच्या ॥ १२९ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे । आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७॥

एकीं ययापरी पार्था । दोषु क्षाळिले सर्वथा । आणिकीं हृदयारणीं मंथा । विवेकु केला ॥ १३० ॥ तो उपशमें निहटिला । धैर्येवरी दाटिला । गुरुवाक्यें काढिला । बळकटपणें ॥ १३१ ॥ ऐसें समरसें मंथन केलें । तेथ झडकरी काजा आलें । जें उज्जीवन जाहलें । ज्ञानाग्नीचें ॥ १३२ ॥ पहिला ऋद्धिसिद्धींचा संभ्रमु । तो निवर्तोनि गेला धूमु । मग प्रगटला सूक्ष्मु । विस्फुलिंगु ॥ १३३ ॥ तया मनाचें मोकळें । तेंचि पेटवण घातले । जें यमनियमीं हळुवारलें । आइतें होतें ॥ १३४ ॥ तेणें सादुकुपणे ज्वाळा समृद्धा । मग वासनांतराचिया सिमधा । स्नेहेंसीं नानाविधा । जाळिलिया ॥ १३५ ॥ तेथ सोहंमंत्रें दीक्षितीं । इंद्रियकर्मांच्या आहुती । तियें ज्ञानानळीं प्रदीप्तीं । दिधलिया ॥ १३६ ॥ पाठीं प्राणक्रियेचिये स्रुवेनिशीं । पूर्णाहुती पडली हुताशीं । तेथ अवभृत समरसीं । सहजें जहालें ॥ १३७ ॥ मग आत्मबोधींचें सुख । जें संयमाग्नीचें हुतशेष । तोचि पुरोडाशु देख । घेतला तिहीं ॥ १३८ ॥ एक ऐशिया इहीं यजनीं । मुक्त ते जाहले त्रिभुवनीं । या यज्ञक्रिया तरी आनानीं । परि प्राप्य तें एक ॥ १३९ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८॥ एक द्रव्युयज्ञु म्हणिपती । एक तपसामग्रीया निपजिवती ।
एक योगयागुही आहाती । जे सांगितलें ॥ १४० ॥
एकीं शब्दीं शब्दु यजिजे । तो वाग्यज्ञु म्हणिजे ।
ज्ञानें ज्ञेय गिमजे । तो ज्ञानयज्ञु ॥ १४१ ॥
हें अर्जुना सकळ कुवाडें । जे अनुष्ठितां अतिसांकडें ।
परी जितेंद्रियासीचि घडे । योग्यतावशें ॥ १४२ ॥
ते प्रवीण तेथ भले । आणि योगसमृद्धि आथिले ।
म्हणौनि आपणपां तिहीं केलें । आत्महवन ॥ १४३ ॥

अपाने जुह्वित प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे । प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९॥

मग अपानाग्नीचेनि मुखीं । प्राणद्रव्यें देखीं । हवन केलें एकीं । अभ्यासयोगें ॥ १४४ ॥ एक अपानु प्राणीं अर्पिती । एक दोहींतेंही निरुंधिती । ते प्राणायामी म्हणिपती । पंडुकुमरा ॥ १४५ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति । सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३०॥

एक वज्रयोगक्रमें । सर्वाहारसंयमें । प्राणीं प्राणु संभ्रमें । हवन करिती ॥ १४६ ॥ ऐसें मोक्षकाम सकळ । समस्त हे यजनशीळ । जिहीं यज्ञद्वारां मनोमळ । क्षाळण केले ॥ १४७ ॥ जया अविद्याजात जाळितां । जें उरलें निजस्वभावता । जेथ अग्नि आणि होता । उरेचिना ॥ १४८ ॥ जेथ यजितयाचा कामु पुरे । यज्ञींचें विधान सरे । मागुतें जेथूनि वोसरें । क्रियाजात ॥ १४९ ॥ विचार जेथ न रिगे । हेतु जेथ न निगे । जें द्वैतदोषसंगें । सिंपेचिना ॥ १५० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् । नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१॥

ऐसें अनादिसिद्ध चोखट । जें ज्ञान यज्ञाविशष्ट । तें सेविती ब्रह्मनिष्ठ । ब्रह्माहंमंत्रें ॥ १५१ ॥ ऐसें शेषामृतें धाले । कीं अमर्त्यभावा आले । म्हणौनि ब्रह्म ते जहाले । अनायासें ॥ १५२ ॥ येरां विरक्ति माळ न घालीचि । जयां संयमाग्नीची सेवा न घडेचि । जे योगयागु न करितीचि । जन्मले सांते ॥ १५३ ॥ जयांचें ऐहिक धड नाहीं । तयांचे परत्र पुससी काई । म्हणौनि असो हे गोठी पाहीं । पंडुकुमरा ॥ १५४ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे । कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२॥

ऐसें बहुतीं परी अनेग । जे सांगितलें तुज कां याग । ते विस्तारूनि वेदेंचि चांग । म्हणितले आहाती ॥ १५५ ॥ परी तेणें विस्तारें काय करावें । हेंचि कर्मसिद्ध जाणावें । येतुलेनि कर्मबंधु स्वभावें । पावेल ना ॥ १५६ ॥ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ञानयज्ञः परंतप । सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३॥

अर्जुना वेदु जयांचें मूळ । जे क्रियाविशेषें स्थूळ । जया नव्हाळियेचें फळ । स्वर्गसुख ॥ १५७ ॥ ते द्रव्यादियागु कीर होती । परी ज्ञानयज्ञाची सरी न पवती । जैशी तारातेजसंपत्ती । दिनकरापाशीं ॥ १५८ ॥ देखें परमात्मसुखनिधान । साधावया योगीजन । जे न विसंबिती अंजन । उन्मेषनेत्री ॥ १५९ ॥ जें धांवतया कर्माची लाणी । नैष्कर्म्यबोधाची खाणी । जें भुकेलिया धणी । साधनाची ॥ १६० ॥ जेथ प्रवृत्ति पांगुळ जाहली । तर्काची दिठी गेली । जेणें इंद्रियें विसरलीं । विषयसंगु ॥ १६१ ॥ मनाचें मनपण गेलें । जेथ बोलाचें बोलकेंपण ठेलें । जयामाजी सांपडलें । ज्ञेय दिसे ॥ १६२ ॥ जेथ वैराग्याचा पांगु फिटे। विवेकाचाही सोसु तुटे। जेथ न पाहतां सहज भेटे । आपणपें ॥ १६३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४॥

तें ज्ञान पैं गा बरवे । जरी मनीं आथि आणावें । तरी संतां यां भजावें । सर्वस्वेसीं ॥ १६४ ॥ जे ज्ञानाचा कुरुठा । तेथ सेवा हा दारवंठा । तो स्वाधीन करी सुभटा । वोळगोनी ॥ १६५ ॥ तरी तनुमनुजीवें । चरणांसीं लागावें । आणि अगर्वता करावें । दास्य सकळ ॥ १६६ ॥ मग अपेक्षित जें आपुलें । तेंही सांगती पुसिलें । जेणें अंत:करण बोधलें । संकल्पा नये ॥ १६७ ॥

यज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव । येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मिय ॥ ३५॥

जयाचेनि वाक्य उजिवडें । जाहलें चित्त निधडें । ब्रह्माचेनि पाडें । निःशंकु होय ॥ १६८ ॥ तें वेळीं आपणपेयां सहितें । इयें अशेषेंही भूतें । माझ्या स्वरूपीं अखंडितें । देखसी तूं ॥ १६९ ॥ ऐसें ज्ञानप्रकाशें पाहेल । तैं मोहांधकारु जाईल । जैं गुरुकृपा होईल । पार्था गा ॥ १७० ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः । सर्व ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६॥

जरी कल्मषाचा आगरु । तूं भ्रांतीचा सागरु । व्यामोहाचा डोंगरु । हौनी अससी ॥ १७१ ॥ तर्ही ज्ञानशक्तिचेनि पाडें । हें आघवेंचि गा थोकडें । ऐसें सामर्थ्य असे चोखडें । ज्ञानीं इये ॥ १७२ ॥ देखें विश्वभ्रमा ऐसा । जो अमूर्ताचा कडवसा । तो जयाचिया प्रकाशा । पुरेचिना ॥ १७३ ॥ तया कायसे हे मनोमळु । हें बोलतांचि अति किडाळु । नाहीं येणें पाडें ढिसाळु । दुजें जगीं ॥ १७४ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मासात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७॥

सांगै भुवनत्रयाची काजळी । जे गगनामाजि उधवली । तिये प्रळयींचे वाहटुळी । काय अभ्र पुरे ॥ १७५ ॥ कीं पवनाचेनि कोपें । पाणियेंचि जो पळिपे । तो प्रळयानळु दडपे । तृणें काष्ठें काई ॥ १७६ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मिन विन्दति ॥ ३८॥

म्हणौनि असो हें न घडे । तें विचारितांचि असंगर्डे ।
पुढती ज्ञानाचेनि पाडें । पिवत्र न दिसे ॥ १७७ ॥
एथ ज्ञान हें उत्तम होये । आणिकही एक तैसें कें आहे ।
जैसें चैतन्य कां नोहे । दुसरें गा ॥ १७८ ॥
या महातेजाचेनि कसें । जरी चोखाळु प्रतिबिंब दिसे ।
कां गिंवसिलें गिंवसे । आकाश हें ॥ १७९ ॥
नातरी पृथ्वीचेनि पाडें । कांटाळें जरी जोडे ।
तरी उपमा ज्ञानीं घडे । पंडुकुमरा ॥ १८० ॥
म्हणौनि बहुतीं परी पाहतां । पुढतपुढती निर्धारितां ।
हें ज्ञानाची पिवत्रता । ज्ञानींची आथि ॥ १८१ ॥
जैसी अमृताची चवी निवडिजे । तरी अमृताचिसारिखी

म्हणिजे । तैसें ज्ञान हें उपिमजे । ज्ञानेंसींचि ॥ १८२ ॥ आतां यावरी जें बोलणें । तें वायांची वेळु फेडणें । तंव साचिच हें पार्थ म्हणे । जें बोलत असां ॥ १८३ ॥ परी तेंचि ज्ञान केवीं जाणावें । ऐसें अर्जुनें जंव पुसावें । तंव तें मनोगत देवें । जाणितलें ॥ १८४ ॥ मग म्हणतसे किरीटी । आतां चित्त देईं इये गोठी । सांगेन ज्ञानाचिये भेटी । उपावो तुज ॥ १८५ ॥

श्रद्धावाण्ल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः । ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९॥

तरी आत्मसुखाचिया गोडिया । विटे जो कां सकळ विषयां । जयाच्या ठायीं इंद्रियां । मानु नाहीं ॥ १८६ ॥ जो मनासीं चाड न सांगे । जो प्रकृतीचें केलें नेघे । जो श्रद्धेचेनि संभोगें । सुखिया जाहला ॥ १८७ ॥ तयातेंचि गिंवसित । तें ज्ञान पावे निश्चित । जयामाजि अचुंबित । शांति असे ॥ १८८ ॥ तें ज्ञान हदयीं प्रतिष्ठे । आणि शांतीचा अंकुर फुटे । मग विस्तार बहु प्रगटे । आत्मबोधाचा ॥ १८९ ॥ मग जेउती वास पाहिजे । तेउती शांतीची देखिजे । तेथ आपपरु नेणिजे । निर्धारितां ॥ १९० ॥ ऐसा हा उत्तरोत्तरु । ज्ञानबीजाचा विस्तारु । सांगतां असे अपारु । परि असो आतां ॥ १९१ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति । नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४०॥

ऐकें जया प्राणियाच्या ठायीं । इया ज्ञानाची आवडी नाहीं । तयाचें जियालें म्हणों काई । वरी मरण चांग ॥ १९२ ॥ शून्य जैसें कां गृह । कां चैतन्येंवीण देह । तैसें जीवित तें संमोह । ज्ञानहीन ॥ १९३ ॥ अथवा ज्ञान कीर आपु नोहे । परि ते चाड एकी जरी वाहे । तरी तेथ जिव्हाळा कांहीं आहे । प्राप्तीचा पैं ॥ १९४ ॥ वांचिन ज्ञानाची गोठी कायसी । परि ते आस्थाही न धरीं मानसीं । तरी तो संशयरूप हुताशीं । पडिला जाण ॥१९५॥ जे अमृतही परि नावडे । ऐसें सावियाचीं आरोचकु जैं पडे । तैं मरण आलें असें फुडें। जाणों येकीं॥ १९६॥ तैसा विषयसुखें रंजे । जो ज्ञानेसींचि माजे । तो संशयें अंगिकारिजे । एथ भ्रांति नाहीं ॥ १९७ ॥ मग संशयीं जरी पडिला । तरी निभ्रांत जाणें नासला । तो ऐहिकपरत्रा मुकला । सुखासि गा ॥ १९८ ॥ जया काळज्वरु आंगीं बाणे । तो शीतोष्णें जैशीं नेणे । आगी आणि चांदिणें । सरिसेंचि मानीं ॥ १९९ ॥ तैसें साच आणि लटिकें । विरुद्ध आणि निकें । संशयीं तो नोळखे । हिताहित ॥ २०० ॥ हा रात्रिदिवसु पाहीं । जैसा जात्यंधा ठाउवा नाहीं । तैसें संशयीं असतां कांहीं । मना नये ॥ २०१ ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् । आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१॥

म्हणौनि संशयाहूनि थोर । आणिक नाहीं पाप घोर । हा विनाशाची वागुर । प्राणियांसि ॥ २०२ ॥ येणें कारणें तुवां त्यजावा । आधीं हाचि एकु जिणावा । जो ज्ञानाचिया अभावा- । माजि असे ॥ २०३ ॥ जैं अज्ञानाचें गडद पडे । तैं हा बहुवस मनीं वाढे । म्हणौनि सर्वथा मार्गु मोडे । विश्वासाचा ॥ २०४ ॥ हदयीं हाचि न समाये । बुद्धीतें गिंवसूनि ठाये । तेथ संशयात्मक होये । लोकत्रय ॥ २०५ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः । छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२॥

ॐ तत्सिदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

ऐसा जरी थोरावें । तरी उपायें एकें आंगवे । जरी हातीं होय बरवें । ज्ञानखड्ग ॥ २०६ ॥ तरी तेणें ज्ञानशस्त्रें तिखटें । निखळु हा निवटे । मग निःशेष खता फिटे । मानसींचा ॥ २०७ ॥ याकारणें पार्था । उठीं वेगीं वरौता । नाशु करोनि हृदयस्था । संशयासी ॥ २०८ ॥ ऐसें सर्वज्ञाचा बापु । जो श्रीकृष्णु ज्ञानदीपु ।

तो म्हणतसे सकृपु । ऐकें राया ॥ २०९ ॥ तंव या पूर्वापर बोलाचा । विचारूनि कुमरु पंडूचा । कैसा प्रश्नु अवसरींचा । करिता होईल ॥ २१० ॥ ते कथेची संगति । भावाची संपत्ति । रसाची उन्नति । म्हणिपेल पुढा ॥ २११ ॥ जयाचिया बरवेपणीं । कीजे आठां रसांची वोवाळणी । जो सज्जनाचिये आयणी । विसांवा जगीं ॥ २१२ ॥ तो शांतुचि अभिनवेल । ते परियसा म-हाटे बोल । जे समुद्राहृनि सखोल । अर्थभरित ॥ २१३ ॥ जैसें बिंब तरी बचकें एवढें । परि प्रकाशा त्रैलोक्य थोकडें । शब्दाची व्याप्ति तेणें पाडें । अनुभवावी ॥ २१४ ॥ नातरी कामितयाचिया इच्छा । फळे कल्पवृक्षु जैसा । बोलु व्यापकु होय तैसा । तरी अवधान द्यावें ॥ २१५ ॥ हें असो काय म्हणावें । सर्वज्ञ जाणती स्वभावें । तरी निकें चित्त द्यावें । हे विनंती माझी ॥ २१६ ॥ जेथ साहित्य आणि शांति । हे रेखा दिसे बोलती । जैसी लावण्यगुणकुळवती । आणि पतिव्रता ॥ २१७ ॥ आधींच साखर आवडे । तेचि जरी ओखदां जोडे । तरी सेवावी ना कां कोडें । नावानावा ॥ २१८ ॥ सहजें मलयानिळु मंदु सुगंधु । तया अमृताचा होय स्वादु । आणि तेथेंचि जोडे नादु । जरी दैवगत्या ॥ २१९ ॥ तरी स्पर्शें सर्वांग निववी । स्वादें जिव्हेतें नाचवी तेवींचि कानांकरवीं । म्हणवीं बापु माझा ॥ २२० ॥

तैसें कथेचें इये ऐकणें । एक श्रवणासी होय पारणें । आणि संसारदुःख मूळवणें । विकृतीविणें ॥ २२१ ॥ जरी मंत्रेंचि वैरी मरे । तरी वायां कां बांधावीं कटारें । रोग जाय दूधसाखरें । तरी निंब कां पियावा ॥ २२२ ॥ तैसा मनाचा मारु न करितां । आणि इंद्रियां दुःख न देतां । एथ मोक्षु असे आयता । श्रवणाचिमाजि ॥ २२३ ॥ म्हणौनि आथिलिया आराणुका । गीतार्थु हा निका । ज्ञानदेवो म्हणे आइका । निवृत्तिदासु ॥ २२४ ॥

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ रामकृष्णहरि ॥

सेवाभावी संतचरणरज

बाळकृष्ण प्रकाश कदम

जय हिर सांस्कृतीक प्रतिष्ठान, सोलापूर

(इतर PDF ग्रंथासाठी संपर्क - ९७६५६५३८०५)